जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक

ISSN 2454-4450

मूल्य ₹ 75

हंस

सितंबर 2025

मूल संस्थापक : **प्रेमचंद : 1930**
पुनर्संस्थापक : **राजेन्द्र यादव : 1986**

पूर्णांक-467 वर्ष : 40 अंक : 2 सितंबर 2025

आवरण : स्वाति बरनवाल

जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक

इस अंक में

मेरी तेरी उसकी बात
4. चेहरे : चटके हुए आइनों में : राजेन्द्र यादव ('हंस', दिसंबर 2001)

अपना मोर्चा
7. पत्र

न हन्यते
11. एक मित्र का असमय चले जाना : संजय सहाय
13. रतन थियाम का जाना : देवेन्द्र राज अंकुर
17. एक थिएटर मिशनरी : सुधन्वा देशपांडे
19. जेएनयू के पहले दलित...: श्यौराज सिंह बेचैन
21. अजित राय की याद : संगम पांडेय

कहानियां
24. ढाका मलमल : आनंद हर्षुल
32. आखिर में...! : राजा सिंह
38. गिरह-गांठ : जयश्री रॉय
46. रक्त-बीज : मनीष वैद्य

कविताएं
52. सत्येन्द्र कुमार, रमेश प्रजापति, नीरज नीर
53. अरुण आदित्य

संस्मरण
54. बैरन अलेक्जेंडर ब्रैंगल की यादों में दॉस्तोएव्स्की : रूपसिंह चंदेल

लेख
60. फिल्म 'फुले' : बड़े पर्दे पर..... : सुधा अरोड़ा

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन और साहित्य
67. आधुनिक साहित्य की विकास यात्रा-4 : अनिल यादव

लघुकथा
10. मार्टिन जॉन

ग़ज़ल
77. अशरफ़ अली, 83. अशोक 'अंजुम'
92. संजीव प्रभाकर

परख
71. उपन्यास की सभ्यतामूलक जमीन का विमर्श : अंकित नरवाल
75. चुनौतियों से जूझती कहानियां : महेश दर्पण
78. सलीके से बुनी संघर्ष की कथा : सरस्वती
81. शोषण की जमीन पर शौर्य गाथा : अंकिता तिवारी
84. सतत संघर्ष का जीवंत राग : कुमारी उर्वशी

साहित्यनामा
88. संतो सहज समाधि भली : साधना अग्रवाल

शब्दवेधी/शब्दभेदी
94. ब्रिटिश औपनिवेशिक कानून और महिलाओं के अधिकार : तसलीमा नसरीन

रेतघड़ी
97

संपादक
संजय सहाय
•
प्रबंध निदेशक
रचना यादव
•
व्यवस्थापक/सह-संपादन सहयोग
वीना उनियाल
•
संपादन सहयोग
शोभा अक्षर
माने मकर्तच्यान(अवैतनिक)
•
प्रसार एवं लेखा प्रबंधक
हारिस महमूद
•
शब्द-संयोजन एवं रूपांकन
प्रेमचंद गौतम
•
ग्राफिक्स
साद अहमद
•
कार्यालय सहायक
किशन कुमार, दुर्गा प्रसाद
•
मुख्य प्रतिनिधि (उ.प्र.)
राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
•
रेखाचित्र
संदीप राशिनकर, कृष्ण कुमार 'अजनबी'
आस्था, अनुभूति गुप्ता

कार्यालय
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
4229/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2
व्हाट्सऐप : 9717239112, 9560685114
दूरभाष : 011-41050047
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

मूल्य : 75 रुपए प्रति
वार्षिक रजिस्टर्ड : 1250 रुपए (व्यक्तिगत)
संस्था/पुस्तकालय : 1500 रुपए (संस्थागत)
वार्षिक पीडीएफ : 600 रुपए (व्यक्तिगत)
पीडीएफ : 700 रुपए (संस्थागत)
विदेशों में : 80 डॉलर
सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. (Akshar Prakashan Pvt. Ltd.) के नाम से किए जाएं.

हंस/अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे. अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है. हंस में प्रकाशित रचनाओं में विचार लेखकों के अपने हैं. उनसे हंस की सहमति अनिवार्य नहीं है. साथ ही उनके मौलिक या अप्रकाशित होने का उत्तरदायित्व संपादक और प्रकाशक का नहीं है बल्कि यह दायित्व रचनाकार का है.

प्रकाशक/मुद्रक : **रचना यादव खन्ना** द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., 4229/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित एवं चार दिशाएं, जी-39/40, सेक्टर-3, नोएडा- 201301 (उ.प्र.) से मुद्रित. संपादक—संजय सहाय.

चेहरे : चटके हुए आइनों में

राजेन्द्र यादव

हर आत्मकथा एक उपन्यास है और हर उपन्यास एक आत्मकथा. दोनों के बीच सामान्य सूत्र फिक्शन है. इसी का सहारा लेकर दोनों अपने को अपने-आप की कैद से निकालकर दूसरे के रूप में सामने खड़ा कर लेते हैं. यानी दोनों ही कहीं न कहीं सर्जनात्मक कथा-गढ़ंत हैं. क्योंकि अतीत ऐसी आइसक्रीम है जो खाने के दौरान ही पिघलती जाती है और सिर्फ 'स्वाद' के रूप में ही हमारे पास बनी रहती है. एक ठोस वास्तविकता बीत जाने के बाद किसी आसमानी नक्षत्र की तरह भाप बनकर समाप्त हो जाती है. हम स्मृति और कल्पना से उसका पुनर्सृजन करते हैं. वह हमारी व्यक्तिगत या सामूहिक यादें हैं जो बादलों की तरह रूप बदलती रहती हैं. जिसे हम इतिहास या आत्मकथा कहते हैं वह वस्तुतः अपनी पसंद या अनुकूल आंतरिक तर्कों के सहारे एक द्वीप से दूसरे द्वीप पर पहुंचने की छलांगों का सिलसिला है. वहां 'मैं' या 'हम' ही इस वृत्तांत के केंद्र हैं. आत्मकथा में घटनाएं, स्थिति या पात्र, उनके चुनाव एवं संबंध नायक के आस-पास बुने होते हैं. वहां 'आत्म' ही हीरो होता है. हीरो का अर्थ है अपनी सफलताओं एवं उपलब्धियों के एक विशेष शिखर पर आ पहुंचा व्यक्ति जो अपनी पिछली यात्रा का जायजा लेता है. वह प्रायः 'सही' होता है. यही प्रक्रिया उपन्यास की भी है पर वहां प्रायः हीरो आत्मग्रस्त और निर्वैयक्तिक दोनों हो सकता है. अपने सपनों की दुनिया के टूटने का दंश बेचैनी बनकर कथा का संचालन और समापन करते हैं. होरी ('गोदान' का नायक) की तरह मर भी सकता है. अगर वह मर ही गया तो आत्मकथा कैसे लिखेगा? अज्ञेय की 'शेखर : एक जीवनी' इसीलिए आत्मकथात्मक उपन्यास है कि वहां नायक महानता के शिखर या किसी परिणति पर पहुंचा हुआ नहीं, बल्कि यात्रा की निरंतरता में है. आत्मकथा प्रायः सफलता या सफलता के बिंदु तक पहुंचे हुए व्यक्ति का आत्म-आकलन है जबकि औपन्यासिक नायक अपनी असफलताओं के माध्यम से हम तक आता है. शुरू में जैसा मैंने कहा—आत्मकथात्मक उपन्यासों में लेखक घटनाओं, स्थितियों, पात्रों के चुनाव और कटे-छंटे प्रस्तुतिकरण को अपनी दृष्टि से विशेष तरतीब देता है. यही प्रक्रिया उपन्यास की भी है. उपन्यास में वह तटस्थता है कि चीजों को वैचारिक या बौद्धिक रूप से व्याख्यायित और परिभाषित किया जा सके. इतनी निर्वैयक्तिकता शायद आत्मकथा में संभव नहीं है. कह सकते हैं कि आत्मकथाएं सामाजिक स्थितियों के किनारे पहुंचे लोगों की कहानी है और उपन्यास उन सामाजिक स्थितियों द्वारा गढ़े-तोड़े और पुनर्व्यवस्थित व्यक्तित्व का जायजा है. इधर उपन्यास की निर्वैयक्तिकता और आत्मकथा की वैयक्तिकता मिलकर उपन्यासों का नया शिल्प रच रही हैं. आत्मकथाएं व्यक्ति की स्फुटित चेतना का जायजा होती हैं जबकि उपन्यास व्यवस्था से मुक्ति संघर्ष

की व्यक्तिगत कथाएं, अक्सर प्रेम और नारी को केंद्र बनाकर सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना करती और परिणाम भुगतती कहानियां. आत्मकथा पाए हुए विचार की या 'सत्य के प्रयोग' की सूची है और उपन्यास विचार का विस्तार और अन्वेषण है.

यह अनुपात तय करना बेहद मुश्किल है कि दोनों में सच और झूठ कितना होता है. केवल परिचित नामों-स्थानों से आत्मकथाएं उन संवेदनात्मक अन्वेषणों की कहानियां नहीं बन जाती जो उपन्यास की विशेषता है, बल्कि अंतः बाह्य संघर्षों की कहानियां परिचित नामों में प्रायः भटक जाती हैं. जैसे अपनी आत्मकथा ('मुड़-मुड़के देखता हूं') में मैं आगरा या अपने मुहल्ले के कुछ परिचित नामों का हवाला दूं तो इनके साथ जुड़े चित्र, कथा की लय कहीं न कहीं भटकाते हैं. उनके सहारे उभरते बिंब अपने आप में स्वतंत्र प्रसंगांतरों में ले जाते हैं जबकि उपन्यास में आए हुए वास्तविक चरित्र भी हमारे लिए उतने ही अवास्तविक हैं जितना संपूर्ण उपन्यास. यहां रचनात्मक कल्पना की गुंजाइश अधिक है. उन्हें जरूरत के हिसाब से गढ़ा जा सकता है. सफल व्यक्ति पर प्रायः उपन्यास नहीं लिखा जाता. पश्चिमी महाकाव्यों और नाटकों की शक्ति का आधार मुख्य पात्रों की त्रासद परिणतियां हैं और यही प्रभावशाली इपैक्ट महाभारत के पात्रों को हमारे लिए 'रामायण' के मुकाबले अधिक स्वीकार्य बनाता है—विशेषकर कृष्ण और पांडवों का अंत. चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि आत्मकथाएं शहीदाना सफलताबोध के यात्रा-वृत्तांत देने की आकांक्षा से प्रेरित होती हैं.

आत्मकथा समय या समाज के न्यायाधीश के सामने दिया गया बयान है. इसमें बहुत से सच छोड़ दिए जाते हैं और बहुत से झूठ मुख्य स्थान पा लेते हैं क्योंकि वहां जाने-अनजाने सेल्फ-जस्टिफिकेशन (अपने को सही सिद्ध करने) का तत्व बना रहता है. या गलतियों और भटकावों का सेहरा किसी और के सिर रख दिया जा सकता है. मैंने अभी तक अपने हरामीपने को स्वीकार करने वाली आत्मकथा शायद ही पढ़ी हो. वहां सफलता या महानता के बीजों को शैशव से ही आविष्कृत करने का प्रयास होता है. आत्मकथात्मक उपन्यासों में नायक निजी और व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण करता है और व्यापक साधारणीकरण का आमंत्रण देता है. यह व्यक्ति का सामाजिक विस्तार है. चूंकि आत्मकथाएं प्रायः प्रसिद्ध व्यक्तियों ने ही लिखी हैं, वे अपने अंतरंग प्रसंगों, सफलताओं, असफलताओं द्वारा हमारे साहस एवं संघर्ष की भावना को जीवंत भी बनाते हैं. वे हमारे लिए आदर्श एवं अनुकरणीय हैं और इस विश्वास को जीवित रखते हैं कि अपनी साधारणता के बावजूद असाधारण को पाया जा सकता है. व्यक्तिगत कमजोरियों और कमीनगियों को या तो छोड़ दिया जाता है या अपने को बचाकर पेश किया जाता है. मैं उन छोटी-छोटी और उपेक्षणीय असफलताओं को अपने निकट अधिक पाता हूं जिनके बावजूद नायक सफल होता चला गया है. ऐसी कुछ आत्मकथाओं में सेंट ऑगस्टीन, बर्ट्रण्ड रसेल, टॉलस्टाय, ईसा डोरा डंकन, मैक्सिम गोर्की, चार्ली चैपलिन, रूसो, सिमोन द बोव्आर, राहुल सांकृत्यायन, नीरद सी. चौधरी, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र और सम्राट अकबर के समकालीन बनारसीदास जैन आदि की आत्मकथाएं प्रमुख हैं. (नेहरू की आत्मकथा बड़े आदमी की छोटी आत्मकथा है, जहां 'बड़ा' कहने के आग्रह में व्यक्तिगत 'छोटे' को छोड़ दिया गया है).

मैं श्रेष्ठ आत्मकथा का एकमात्र गुण मानता हूं, उन अंतरंग अनछुए और लगभग अकथनीय प्रसंगों का अन्वेषण और स्वीकृति जो व्यक्ति की कहानी को विश्वसनीय और आत्मीय बनाते हैं यानी जिनसे मैं आइडेंटिफाई (साधारणीकरण) कर सकता हूं, चूंकि वहां किसी विशेष समय की बात करते हुए हमारे सामने कुछ व्यक्तियों, स्थितियों के चित्र सामने आते हैं इसलिए कह सकते हैं कि यह समाज का व्यक्तिगत और आंतरिक इतिहास प्रस्तुत करती है. ऊपर वर्णित आत्मकथाओं में गांधी के सत्य के प्रयोग को अलग रखा गया है क्योंकि वह परिणति की नहीं, प्रक्रिया एवं संघर्षों की कथा है जहां व्यक्ति अपने बनने के दौरान समाज को भी एक रूप दे रहा होता है. इसके बरअक्स महान व्यक्तियों की आत्मकथाएं परिस्थितियों से लड़ते हुए व्यक्तिगत उपलब्धियों की उत्प्रेरक कहानियां हैं.

हिंदी में मुझे हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा का सिर्फ पहला खंड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' बहुत प्रामाणिक लगता है. (तेजी का उनके जीवन में आगमन दूसरे खंड को असहज और झूठ बनाता है. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की अपनी खबर, बनारसीदास जैन की 'अर्धकथानक' ईमानदार आत्मस्वीकृतियां हैं. इधर मराठी में कुछ अच्छी आत्मकथाएं आई हैं. खासतौर से ये उन उपेक्षित और हाशिए पर डाल दिए गए लोगों की यातना-कथाएं हैं जिनके पास पीछे लौटने के लिए महान अतीत नहीं है, सिर्फ वीभत्स वर्तमान है. इसीलिए ये केवल उस व्यक्ति की ही नहीं बल्कि उसके जीवन के साथ-साथ उस समाज की भी मुक्तिकथाएं बन जाती हैं जहां से वह उठने की कोशिश करता है. शरणकुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' और लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उचल्या' दहला देने वाली आत्मकथाएं समाज के खिलाफ गंभीर आरोप-पत्र हैं. यहां मराठी में दलित लेखिकाओं की आत्मकथाओं को विशेष रूप से रेखांकित करना चाहूंगा, क्योंकि उनके संघर्ष भौतिक, नैतिक,

यौनिक (सेक्सुअल) और सामाजिक संस्कारों को पहचानने और अपमान और गरीबी से लड़ने की यंत्रणाओं को उजागर करते हैं. हंसा वाडकर, शांता आप्टे, माधवी देसाई और बेबी कांबले की आत्मकथाओं जैसी हिंदी में नहीं हैं. उत्तर-भारत में शायद 'उमराव जान अदा' पहला आत्मकथात्मक उपन्यास है जो व्यक्ति के साथ-साथ समय की भी कथा है. 'सीमंतनी उपदेश' उन्नीसवीं सदी के अंत में किसी हिंदू औरत की आत्मकथा हमारे समाज में स्त्रियों की दुर्दशा का बेबाक बयान है. हिंदी में कौशल्या बैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप', कृष्णा अग्निहोत्री का 'लगता नहीं है दिल मेरा', मैत्रेयी पुष्पा का 'कस्तूरी कुण्डल बसै', प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता' और दिनेश नंदिनी डालमिया के आत्म-कथात्मक उपन्यासों की चर्चा भी यहां जरूरी है जहां सामंती नैतिकता और तहखानों की बेड़ियों के बरअक्स खुले औद्योगिक समाज की टकराहटें हैं. इन्हें पढ़कर कुलीनता की बेड़ियों से जकड़े उन जख्मी पैरों का बिंब सामने आता है जिनके सामने खुले रास्तों का प्रलोभन है. शायद इसीलिए दिलीप कौर टिवाणा ने आत्मकथा का नाम 'नंगे पैरों का सफ़र' दिया है. व्यवस्था के भीतर ही परंपरागत उपलब्धियां और संतोष खोजती दो-तीन आत्मकथाओं में शिवरानी देवी की 'प्रेमचंद घर में' सुधा चौहान की 'दीप से दीप जले' और कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' का उल्लेख किया जा सकता है. जिस तरह डॉ. नगेन्द्र या नामवर सिंह आत्मगोपन के बिना नहीं चल सकते (देखें नगेन्द्र जी का 'अर्थ कथानक' और नामवर सिंह का 'तद्भव' में प्रकाशित उनका आत्मकथ्य) उसी तरह कुसुम अंसल नारी-सच कहने का खतरा उठाने से डरती हैं, वे आर्य समाजी आदर्श लड़की की कहानी से आगे नहीं जातीं. जबकि पंजाबी में दिलीप कौर टिवाणा की 'नंगे पैरों का सफ़र' और अजित कौर की 'खानाबदोश' जैसी आत्मकथाएं भुलाए नहीं भूलतीं. यहां अमृता प्रीतम और कमलादास की आत्मकथाओं को इसलिए नहीं गिन रहा हूं क्योंकि वे सामाजिक वर्जनाओं के बोझ तले अपने को बचाती, झूठी यानी औपन्यासिक आत्मकथाएं हैं. वहां वर्जनाएं या तो सपने में टूटती हैं या साहिर लुधियानवी की असमर्थता की छत्रछाया में. इस मामले में मराठी और पंजाबी के साथ ही कुछ मुस्लिम लेखिकाओं के नाम लेना बहुत जरूरी है. मसलन इस्मत चुग़ताई की 'टेढ़ी लकीर', कुर्रतुलऐन हैदर की 'काग़ज़ी है पैरहन', तसलीमा नसरीन की 'बुरी लड़की की कथा' और तहमीना दुर्रानी की 'ब्लास्फैमी' तथा 'माई फ्यूडल लॉर्ड' जैसी एक भी आत्मकथा का ध्यान हिंदी में नहीं आता. उन्हें पढ़ते हुए कबीर की उक्ति 'सीस उतारै, भूंई धरै तापर राखे पांय, यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं' की याद आती है. मुझे यह साहसिक तत्व हिंदी में पहली बार मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में दिखाई देता है.

चूंकि हमारी सारी संस्कृति, नैतिकता स्त्री-शरीर पर टिकी है इसलिए मुझे नहीं लगता कि कोई भी स्त्री-कथा बिना देह की बात किए ईमानदार हो सकती है. इसीलिए स्त्रियों की इस निहायत अपरिचित लेकिन निरंतर हमारे आस-पास घटित होती हुई जिंदगी को सामने लाने वाली इन आत्मकथाओं के साथ शायद उन अश्वेत लेखकों के आत्मकथात्मक उपन्यासों को भी लिया जा सकता है जिन्होंने अचानक ही इधर अपनी आक्रामक उपस्थिति दर्ज की है. उदाहरण के लिए टोनी मॉरीसन का 'वि लवेड अलेक्स', हेली का 'रूट्स', जेम्स बाल्डविन और रिचर्ड राईट के अलावा नार्दिन गार्डीमर, चिनुआ अचेवे, न्गी वांथागो आदि की गुस्सैल और आक्रामक रचनाओं को लिया जा सकता है. ये रचनाएं किसी दूसरे नक्षत्र में रहने वाले प्राणियों की चकित करने वाली कहानियों की तरह रोमांचित करती हैं, मगर इनका आत्म-सत्य कहानियों से अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है. शायद भविष्य के साहित्य की रूपरेखा इन्हीं हाशिए के लेखकों की रचनाओं से बनेगी. यहां आत्मकथाओं एवं उपन्यासों के विस्फोटक अंतः मिश्रण का सवाल अप्रासंगिक हो जाता है. इसके कुछ तत्व निदा फ़ाज़ली के 'दीवारों के बीच' और धीरेंद्र अस्थाना के 'गुज़र क्यों नहीं जाता' में दिखाई पड़ते हैं.

अंत में यही कहने का मन होता है कि सच को झूठ और झूठ को सच में फेंटने की कला का दूसरा नाम है औपन्यासिक आत्मकथाओं के प्रयोग. उपन्यास में आत्मसात् किए और पचाए हुए सत्य होते हैं, आत्मकथा में सामाजिक सेंसर से ढाले गए झूठ. 'बोल्ड' या साहसिक होना इस झूठ की परतों को छीलने का दूसरा नाम है.

अंत में आस्तिक होने का खतरा उठाते हुए कहूंगा कि उपन्यास किसी रचनाकार का ऐसा विचार है जिसे वह काट-छांटकर बांट-समेटकर प्रस्तुत करता है—उधर आत्मकथा 'उस कथाकार' की रचना है जिसके पास न कोई विचार है, न युक्ति शायद दृष्टि भी नहीं है जिसे शेक्सपियर कहता है ''लाइफ इज ए टेल टोल्ड बाई ऐन ईडियट, फुल ऑफ साउंड एंड फ्यूरी, सिग्नीफाइंग नथिंग...'' (जिंदगी किसी सिरफिरे की हांकी गई ऐसी गप्प है जिसमें फूं-फां तो बहुत है, मगर जिसका न कोई सिर है न पैर) उपन्यास हो या आत्मकथा दोनों इसी 'ऊल-जलूल' को तरतीब देना है.

('हंस', दिसंबर 2001)

अपना मोर्चा

सार्थक बहस की मांग

'हंस' अगस्त 2025 अंक. संपादकीय 'राधिका के बहाने...' हमारे समाज की जटिलताओं और बदलते सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य पर गहन विमर्श प्रस्तुत करता है. यह विमर्श केवल विवाह संस्था तक सीमित नहीं है बल्कि इसके माध्यम से जाति, धर्म, परंपरा, आधुनिकता, स्त्री-पुरुष संबंध और सामाजिक रूढ़िवादिता पर भी सार्थक टिप्पणी है.

इसमें यह सवाल उठाया गया है कि आखिर क्यों समाज व्यक्तिगत जीवन और स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने का अधिकार अपने हाथों में ले लेता है? आधुनिक शिक्षा और विज्ञान की प्रगति के बावजूद जातिगत बंधन लोगों की सोच में गहरे पैठ बनाए हुए है. यही कारण है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता अक्सर सामाजिक पाबंदियों के आगे हार जाती है.

संपादकीय की विशेषता इसकी बेबाकी है. यह पाठक को सोचने पर मजबूर करता है और आत्मचिंतन की ओर ले जाता है. समाज में सकारात्मक बदलाव लाने और संवाद की प्रक्रिया को गति देने वाला यह उत्कृष्ट संपादकीय है. इसकी भाषा शैली और तर्क इसे न केवल पठनीय बल्कि संग्रहणीय भी बनाता है.

शम्भू शरण सिंह सत्यार्थी,
औरंगाबाद (बिहार)
ईमेल : shambhu.dord@gmail.com

जीवंत सफरनामा

'हंस' अगस्त 2025 अंक. गीताश्री का यात्रावृत्त 'जॉर्जिया पीपुल डोंट हैव मनी...' पढ़कर सचमुच मन प्रसन्न हो गया. उन्होंने जिस आत्मीयता और गहनता से वहां के भूगोल, इतिहास, प्राचीन राजधानी मत्सखेता, कुरा और अरागवी नदियों के संगम, गुफा बस्ती, अंगूरों और चा चा वोदका का वर्णन किया है, वह हमें जॉर्जिया की गलियों में ले जाकर खड़ा कर देता है. उन्होंने सफर को केवल दृश्यों तक ही सीमित नहीं रखा, वहां के राजनीतिक माहौल विशेषकर, उनकी रूस से नफरत और डर, लोगों की डॉलर की लालसा, सब पर दृष्टि डाली. यह संतुलन इस सफरनामे को एक जीवंत सामाजिक-राजनीतिक दस्तावेज बना देता है.

वैसे उन्होंने जॉर्जिया की लड़कियों की खूबसूरती का जो जिक्र किया, उससे मन में यह सवाल रह गया—क्या यह शोहरत सिर्फ चेहरे मोहरे और सौष्ठव तक है या उनके पहनावे और उनके बातचीत के अंदाज में भी कोई ऐसा जादू है जो उन्हें औरों से अलग बनाता है?

पढ़ते-पढ़ते कुछ जिज्ञासाएं मन में रह गईं—चा चा स्वाद में कैसी थी? उसकी तासीर कैसी थी? वहां के लोगों का रोज का खान-पान कैसा है? क्या लेखक ने कोई ऐसा व्यंजन चखा जिसे याद करके आज भी मुंह में पानी आ जाए? भारतीय गीत और फिल्मी हीरो की उनकी पसंद तो लेखक ने पता कर ली—पर वहां का कोई लोकगीत या पॉप सॉन्ग उन्हें इतना भाया कि उन्होंने उसे पेनड्राइव या मोबाइल में सहेज लिया हो? रूस से नफरत और डर के बावजूद स्टालिन के प्रति सम्मान...यह जॉर्जियाई दिल का कैसा रहस्य है? उन्होंने वहां की नई पीढ़ी से इस पर बात की? गीताश्री के अगले